बब्बर शेरों का नया ठिकाना?

प्रमोद भार्गव

आखिरकार सर्वोच्च न्यायालय ने बब्बर शेरों को गुजरात के गिर वनों से मध्य प्रदेश के श्योपुर ज़िले में स्थित कूनो-पालपुर के जंगलों में नया ठिकाना बनाने की अनुमति दे दी। 1993 में भारतीय वन्य जीव संस्थान ने इन बब्बर शेरों को पालपुर में बसाने की इजाज़त दी थी। हालांकि कहना मुश्किल है कि अदालत के निर्देशानुसार इनका पुनर्वास कूनो में हो जाएगा क्योंकि गुजरात के एक सांसद ने इस निर्णय पर आशंका जताते हुए कहा है कि नई जगह इन शेरों को रास नहीं आएगी। उधर गुजरात सरकार भी पुनर्विचार याचिका दाखिल करने की तैयारी में जुट गई है। गिर क्षेत्र में अदालत के आदेश के विरोध में आंदोलन मज़बूत हो रहा है।

बब्बर यानी एशियाई शेर या एशियाटिक लायन को नए घर में स्थानांतरित करने की इजाज़त इसलिए दी गई है कि प्राकृतिक आपदा अथवा महामारी से इनकी नस्ल सुरक्षित रहे। इन शेरों का दूसरा घर बसाए जाने की पहल गिर अभयारण्य के जीव विज्ञानी रवि चेल्लम ने की थी। रवि चेल्लम ने वर्षों सासण गिर के वन प्रांतों में भटकने के बाद पाया कि कभी किसी रोग अथवा प्रकोप के चलते सिंह की इस दुर्लभ प्रजाति का क्षय हो सकता है। इसलिए इन्हें किसी अन्य राष्ट्रीय उद्यान में भी बसाया जाना चाहिए।

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के.एस. राधाकृष्ण और चंद्रमौली प्रसाद की खंडपीठ ने अपने फैसले का आधार रवि चेल्लम की सिफारिश को ही बनाया है। 2008 में अंतर्राष्ट्रीय प्रकृति संरक्षण संघ ने भी इस प्रजाति को दुर्लभतम की श्रेणी में रखा था। अतः इनकी सुरक्षा के उपाय निहायत ज़रूरी थे।

दुनिया में बब्बर शेरों का एकमात्र प्राकृतिक ठिकाना गुजरात के गिर वन ही हैं। यहां आवास, आहार व प्रजनन से जुड़ी कुछ ऐसी विलक्षणता है कि यहां विश्व में सबसे अधिक प्राणी घनत्व है। गिर का क्षेत्रफल 1412 वर्ग किमी है और 2010 की प्राणी गणना के अनुसार यहां 411 सिंह हैं। अपनी दहाड़ से आठ किमी के दायरे में दहशत फैला देने वाले सिहों के शिकार के लिए यहां करीब 50 हज़ार बारहसिंहे हैं। चीतल और चिंकारे भी बड़ी संख्या में हैं। मार्च 2007 में दो घटनाओं में अंतर्राष्ट्रीय वन्य जीव तस्करों ने 14 शेरों की हत्या कर दी थी। इतनी बड़ी घटना इस अभयारण्य में पहले कभी नहीं घटी थी। बाद में गुजरात सरकार ने स्थानीय ग्रामीणों की मदद से न केवल पारधी कबीले के 35 लोगों को पकड़ा और शेरों की सुरक्षा के अन्य कठोर कानूनी उपाय भी किए। नतीजतन गिर में ऐसी घटना की पुनरावृत्ति फिर नहीं हुई।

वन्य जीव विशेषज्ञों का मानना है कि सिंह जैसी दुर्लभ प्रजातियों के लिए प्राकृतिक विपदा या महामारी तो संकट का सबब हैं ही, गिर के जंगलों में इनकी आबादी लगातार बढ़ती जाने के कारण मानवीय बसाहटों के साथ टकराव के हालात उत्पन्न हो रहे हैं, जो शेरों के वजूद के लिए शुभ नहीं हैं।

गुजरात सरकार का तर्क है कि बब्बर शेर केवल गुजरात की ही वन्य प्राणी संपदा है, इसलिए इसे किसी

अन्य प्रांत में स्थानांतरित नहीं किया जा सकता। जबकि सच्चाई यह है कि आज दुनिया की दुर्लभ जीव तथा वनस्पति प्रजातियों को बचाने की चिंता वैश्विक स्तर पर हो रही है। शेरों को गुजरात से मध्यप्रदेश भेजने का फैसला किसी राजनीतिक कारण से नहीं, बल्कि सिंहों के वंश को अक्षुण्ण बनाए रखने की दृष्टि से लिया गया है।

हालांकि शारीरिक शक्ति व फुर्ती की दृष्टि से बाघ अधिक बलिष्ठ माना गया है, किंतु सिंह को अपने व्यक्तित्व के विलक्षण गुणों के कारण पशुराज कहा गया है। ऐसा माना जाता है कि गिर में एशियाई शेरों की जो वर्तमान नस्ल है, उसके पूर्वज ई.पू. 480 में दक्षिण युरोप में पैदा हुए थे, खासकर यूनान में जहां अर्से तक ये वजूद में रहे। एक जानकारी के मुताबिक करीब ढाई हज़ार साल पहले सिंहों का एक झुण्ड बादशाह जरकसिज के मालवाहक ऊंटों पर टूट पड़ा था। हिरोडोटस ने मेसिडोनिया में पाए जाने वाले सिंहों का ज़िक्र किया है। किंतु युरोप में इनका अस्तित्व शिकार व महामारी के चलते ई.पू. 100 में एकाएक खत्म हो गया।

इसके बाद ये एशिया के चंद देशों और भारत में ही बचे रह गए। एक ज़माने में सीरिया, फिलिस्तीन और इराक में भी इनकी बड़ी तदाद रही थी। इज़राइल में भी एक समय बड़ी तदाद में थे, और 20वीं सदी के आरंभ तक अरब देशों में भी इनकी मौजूदगी बनी रही। ईरान के कुछ क्षेत्रों में 19वीं सदी तक ये खूब दिखाई दिए, किंतु 20वीं सदी की शुरुआत में इनका लगभग अंत हो गया हालांकि वहां अभी भी कुछ सिंह जीवित हैं। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि एशिया के सभी देशों में सिंहों का अस्तित्व नहीं रहा। मंगोलिया, चीन, जापान, दक्षिण पूर्व एशिया, बर्मा, श्रीलंका और इंडोनेशिया ऐसे देश हैं, जिनमें सिंह कभी भी वजूद में नहीं रहे। जब पकिस्तान अखंड भारत का हिस्सा था, तब यहां भी खूब सिंह थे, लेकिन भारत से विभाजित होने के बाद सिंहों का पाक में एकाएक लोप हो गया।

गुजरात में एशियाई शेरों की जो चहलकदमी सासण-गिर के जंगलों में दिखाई देती है, उसका श्रेय केवल सौराष्ट्र के जूनागढ़ राज्य के नवाबों को जाता है। वैसे 19वीं शताब्दी के अंत तक लगभग समूचे भारत में सिंह बड़ी संख्या में पाए जाते थे। अंग्रेज़ यात्री मेजर स्लिमन ने अपनी यात्रा गाथा में दिल्ली के आसपास 40 सिंहों की टोली देखने का ज़िक्र किया है। भारत में मुगलकाल में सिंहों की काफी तादाद थी और इनके शिकार पर भी प्रतिबंध था। ईस्ट इंडिया कंपनी के शासनकाल में यह रोक हटा ली गई। नतीजतन अंग्रेज़ शिकारी और फौजी अफसरों ने सिंहों का बेरहमी से शिकार किया। अकेले कर्नल जॉर्ज स्मिथ ने 300 सिंहों को मारा। एक अन्य फौजी ने दिल्ली के पास 50 सिंहों को मारा। बिहार, पंजाब और दक्षिण भारत में भी अंग्रेज़ों ने सिंहों का होड़ लगाकर शिकार किया। किंतु जूनागढ़ के नवाबों ने सौराष्ट्र में अंग्रेज़ों को सिंहों के शिकार का अवसर नहीं दिया। उन्होंने झूठ बोलकर इस क्षेत्र में सिंहों की उपस्थित को नकारा। आज़ादी के बाद जब 1955 में सिंहों की पहली बार गिनती की गई तो इनकी संख्या महज़ 55 थी। किंतु उचित सरंक्षण के चलते संख्या में इज़ाफा होता गया और आज गिर में 400 से भी ज़्यादा सिंह हैं। इनका वंश आगे भी सुरक्षित रहे, इस हेतु इनका नया ठिकाना कूनो-पालपुर तलाशा गया है।

गौरतलब यह है कि इस वनखण्ड को गुजरात के गिरवन के सिंहों को बसाए जाने के लिए पैंसठ करोड़ रुपए खर्च कर विकसित किया गया है। 24 आदिवासी ग्राम बेरहमी से उजाड़ दिए गए हैं। डेढ़ दशक बीत जाने के बाद भी इन ग्रामवासियों का न तो अब तक समुचित पुनर्वास हो पाया है और न ही इन्हें अपनी संपत्ति का पूरा मुआवज़ा मिला है। मुआवज़े की जायज़ मांग को लेकर आदिवासियों, वनकर्मियों और पुलिस के बीच कई हिंसक झड़पें भी हो चुकी हैं।

लार्ड कर्जन ने ग्वालियर राज्य के महाराजा माधवराव सिंधिया प्रथम को सिंहों के संरक्षण व पुनर्वास की सलाह दी थी। 1904 में लार्ड कर्जन शिवपुरी, श्योपुर और मोहना के जंगलों में शेरों का शिकार करने आए थे, पर उस समय तक यहां शेर लुप्त हो चुके थे।

कर्जन की सलाह पर अमल करते हुए 1905 में डेढ़ लाख रुपए का सालाना बजट निर्धारित कर सिंहों के पुनर्वास

की पहल शिवपुरी, श्योपुर व मोहना के जंगलों में की गई थी। वन्य जीवन के एक पारसी जानकार डी.एम. जाल को सिंहों के पुनर्वास की ज़िम्मेदारी सौंपी गई। जाल ने पहले जूनागढ़ के नवाबों से चीते लेने का प्रयास किया लेकिन नवाबों ने साफ इन्कार कर दिया। बाद में जाल, लार्ड कर्जन का एक सिफारिशी पत्र लेकर इथोपिया गए और दस सिंह-शावक जहाज़ से मुंबई लाए। इन शावकों की अगवानी करने ग्वालियर महाराज खुद मुंबई पहुंचे थे।

मुंबई तक आते-आते दस में से सात शावक ही बच पाए थे। इनमें तीन नर और चार मादा थे। इन शावकों को पहले ग्वालियर के चिड़ियाघर में ही पाला गया। वयस्क होने पर दो मादाओं ने गर्भधारण किया और पांच शावक जने। इन शावकों के बड़े होने पर आठ सिंह शिवपुरी के सुल्तानगढ़ जल प्रपात के पास बियावान जंगल में छोड़े गए। चिड़ियाघर के कृत्रिम माहौल में पले व बड़े हुए ये सिंह वन्य प्राणियों का शिकार करने में तो सर्वथा नाकाम रहे, इसलिए भूख के लिए इन्होंने पालतू मवेशी व ग्रामीणों को शिकार करने का सिलसिला शुरू कर दिया। 1910 से 1912 के बीच इन सिंहों ने एक दर्जन लोगों को मार डाला था। इससे गांवों में हाहाकार मच गया। नतीजतन ग्वालियर महाराजा ने ग्रामीणों को राहत पहुंचाने की दृष्टि से सिंहों को पकड़वा लिया। 1915 में इन्हें एक बार फिर श्योपुर के कूनो-पालपुर जंगल में बसाने का असफल प्रयास किया गया। यहां भी इनकी आदमखोर प्रवृत्ति जारी रही। इन्हें पकड़ने के प्रयास असफल रहे। बाद में इन्हें नीमच, झांसी, मुरैना व पन्ना में मार गिराए जाने के समाचार मिले।

सवाल उठता है कि जब एकतंत्री हुकूमत के दौरान सिंहों अथवा चीतों का पुनर्वास संभव नहीं हुआ, जबकि तब इस इलाके में घनघोर जंगल थे और अपेक्षाकृत पर्याप्त आहार के लिए वन्य प्राणी भी बड़ी संख्या में उपलब्ध थे, तो अब कैसे संभव है? क्या अभयारण्यों में चीतों अथवा सिंहों के पुनर्वास के प्रयास वनवासियों के लिए आफत के अभयारण्य ही सिद्ध होंगे? गिर के सिंह नहीं मिलने की स्थिति में मध्यप्रदेश के वन अमले ने कूनों में चीता बसाए जाने की 300 करोड़ की योजना बनाई थी। किंतु सर्वोच्च न्यायालय ने इस प्रस्ताव को खारिज कर दिया था।

इस जंगल को कूनो-पालपुर अभयारण्य के नाम से करीब ढाई दशक पहले अधिसूचित किया गया था। कूनो नदी इस अभयारण्य के वन्य प्राणी व वनवासियों की जीवन रेखा रही है। गुजरात के गिर अभयारण्य के एशियाई सिंह बसाने के फेर में इन घने वन प्रांतरों से हज़ारों आदिवासियों को डेढ़ दशक पहले खदेड़ दिया गया था। उनका अब तक न तो उचित पुनर्वास हुआ है और न ही मुआवज़ा मिला है। नतीजतन आदिवासी आज भी आक्रोशित हैं। सहरिया मुक्ति मोर्चा के बैनर तले आदिवासी समूह अपने हकों के लिए जब तब उठ खड़े होते हैं। ये अपने पुराने आवासों में बसने के लिए जंगल की ओर कूच भी कर जाते हैं। अब तक के संघर्षों में एक वनपाल राजकुमार आदिवासी, वनकर्मी बृजेन्द्र बाथम और मुरारी कढेरे जान गंवा चुके हैं। दूसरी तरफ पुलिस फायरिंग में तीन दर्जन आदिवासी घायल हुए हैं। करीब 500 लोगों पर सरकारी काम में बाधा डालने का मामला चल रहा है।

यह विडंबना हमारे देश में ही संभव है कि वन और वन्य प्राणियों का आदिकाल से संरक्षण करते आ रहे आदिवासियों को बड़ी संख्या में जंगलों से केवल इस बिला पर बेदखल कर दिया गया कि इनका जंगलों में रहना वन्य जीवों के प्रजनन, आहार व नैसर्गिक आवासों के दृष्टिगत हितकारी नहीं है। इसी सोच के आधार पर मध्यप्रदेश में आदिवासियों को मूल आवासों से उजाड़े जाने का सिलसिला जारी है।

देश के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास जितना पुराना है, आदिवासियों को वनों से बेदखल कर वन अभयारण्यों की स्थापना का इतिहास भी लगभग उतना ही पुराना है। इसकी बुनियाद अंग्रेज़ों के निष्ठुर और बर्बर दुराचार पर टिकी है। दरअसल जब मंगल पांडे ने 1857 के संग्राम का बिगुल फूंका था, तब मध्यप्रदेश के हिल स्टेशन पचमढ़ी की तलहटी में घने जंगलों में बसे गांव हर्राकोट के कोरकू मुखिया भूपत सिंह ने भी फिरंगियों के विरुद्ध विद्रोह का झंडा फहराया था। प्रथम स्वतंत्रता संग्राम तो अंग्रेज़ों ने कुटिल नीतियों तथा सामंतों के समर्थन के चलते जल्दी काबू में ले लिया, लेकिन भूपत सिंह को हर्राकोट से विस्थापित

करने में दो साल का समय लगा। इस जंगल से आदिवासियों की बेदखली के बाद ये वन 1859 में बोरी आरक्षित वन घोषित कर दिए गए। इसके बाद 1862 में वन महकमा वजूद में आया। हैरानी इस बात पर है कि तभी से हम विदेशियों द्वारा खींची गई लकीर के फकीर बने चले आ रहे हैं। नीति और तरीके भी वहीं हैं। दरअसल हमें वन, वन्य जीव और आदिवासियों की सहभागिता और स्थानीय इकोसिस्टम को समझने की ज़रूरत है।

विकसित देशों में भारत की तुलना में आबादी का घनत्व कम और भूमि का विस्तार ज़्यादा है। इसलिए वहां रहवासियों को बेदखल करके वन्य प्राणियों को सुरक्षित करने की नीति अपनाई जा सकती है, परंतु हमारे यहां यह स्थिति मौजूदा परिवेश में कतई संभव नहीं है। जिन भूखण्डों पर वन और प्राणियों का स्वच्छंद अस्तित्व है, मानव सभ्यता भी वहां हज़ारों-हज़ार साल से बसी है। दरअसल युरोपीय देशों में वनों के संदर्भ में एक अवधारणा विल्डरनेस (निर्जन क्षेत्र) प्रचलन में है, जिसके मायने हैं मानवविहीन सन्नाटा। जबकि हमारे पांच हज़ार साल से भी ज़्यादा पुराने ज्ञात इतिहास में ऐसी किसी अवधारणा का उल्लेख नहीं है। इसी वजह से हमने अभी तक जितने भी अभयारण्यों अथवा राष्ट्रीय उद्यानों से रहवासियों का विस्थापन किया है, वहां-वहां वन्य जीवों की संख्या अप्रत्याशित ढंग से घटी है। सरिस्का, कान्हा, बांधवगढ़, पन्ना और रणथम्भौर जैसे बाघ आरक्षित वन इसके उदाहरण हैं। सच्चाई यह है कि करोड़ों-अरबों रुपए खर्चने के बावजूद ये जीवन विरोधी नीतियां कहीं भी कारगर साबित नहीं हुई हैं। बल्कि अलगाव की उग्र भावना पैदा करने वाली विस्थापन व संरक्षण की इन नीतियों से स्थानीय समाज और वन विभाग के बीच परस्पर टकराव के हालात उत्पन्न हुए हैं और आदिवासियों को वनों और प्राणियों का दुश्मन बनने पर विवश किया गया है।

शिवपुरी ज़िले का ही करैरा स्थित सोन चिड़िया अभयारण्य गलत वन नीतियों का माकूल उदाहरण है। 1980 में यहां पहली बार एक किसान ने दुर्लभ सोन चिड़िया देखकर कलेक्टर शिवपुरी को इसकी सूचना दी थी। तत्कालीन कलेक्टर ने वन अधिकारियों के साथ जब इस अद्भुत पक्षी को देखा तो इस राजस्व वन को अभयारण्य बनाने का सिलसिला शुरू हुआ और 202 वर्ग कि.मी. का राजस्व वन 1982 में सोन चिड़िया अभयारण्य अधिसूचित कर दिया गया। इसके बाद देखते-देखते झरबेरियों से भरे इस वन खण्ड में सोन चिड़िया और काले हिरणों की संख्या आशातीत रूप से बढ़ गई। लेकिन इनके संरक्षण के लिए अभयारण्य क्षेत्र में आने वाले 11-12 गांवों के विस्थापन की प्रक्रिया ने ज़ोर पकड़ा तो देखते-देखते करीब साढ़े तीन हज़ार काले हिरणों और चालीस सोन चिड़ियाओं की आबादी के चिन्ह मिटा दिए गए। नतीजतन विस्थापन का सिलसिला थम गया। यहां ऐसा इसलिए संभव हुआ क्योंकि विस्थापित किए जाने वाले गांव आदिवासी बहुल ग्राम नहीं थे। इनमें सवर्णों और पिछड़ी जातियों की बहुसंख्य आबादी थी। ये राजनीति में रसूख तो रखते ही थे, प्रशासन में भी प्रभावी दखल रखते थे। आर्थिक सक्षमता ने इन्हें विस्थापित होने से बचा लिया।

दरअसल कूनो में गिर के एशियाई सिंह बसाए जाने की योजना डेढ़ दशक पूर्व इस इलाके के 24 वनवासी गांवों को विस्थापित कर पुर्नवास की प्रक्रिया के साथ अमल में लाई गई थी। विस्थापितों को यह भरोसा दिलाया गया था कि सर्व सुविधायुक्त पुनर्वास स्थलों में बसाए जाने के साथ समुचित मुआवज़ा भी उपलब्ध कराया जाएगा। 1998 से 2002 तक पुनर्वास की प्रक्रिया के तहत विस्थापितों को आंशिक सुविधाएं हासिल भी कराई गईं। परंतु मुआवज़े की जो धनराशि 2003 में देनी चाहिए थी, उससे इन्हें आज तक वंचित रखा गया है।

विस्थापन के ऐसे ही कारणों के चलते इनके जीवन स्तर सम्बंधी जो भी अध्ययन सामने आए हैं उनमें पाया गया है कि इनकी आमदनी 50 से 90 प्रतिशत तक घट गई है। यह अध्ययन सतपुड़ा टाइगर रिज़र्व फॉरेस्ट, माधव राष्ट्रीय उद्यान, शिवपुरी और कूनो-पालपुर में किए गए हैं। कर्नाटक में बिलीगिरी रंगास्वामी मंदिर अभयारण्य में लगी पाबंदी के कारण सोलिंगा आदिवासियों को दो दिन में एक ही मर्तबा भोजन नसीब हो पा रहा है।

सच्चाई तो यह है कि आधुनिक और औद्योगिक विकास

का जो भी मार्ग है, वह आदिवासियों की ज़मीन से होकर गुज़रता है। उद्यानों और अभयारण्यों में सिंह बसाने हों अथवा खदानों में खनन किया जाना हो, उजड़ना आदिवासियों को ही पड़ता है। इस उजाड़वाद का एक रास्ता नक्सलवाद की ओर भी जाता है, जिसे प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने आंतकवाद से भी ज़्यादा खतरनाक बताया है। लेकिन यह नक्सलवाद न तो आदिवासियों की समस्या का समाधान है और न ही सरकार इस समस्या का समाधान ढूंढ पा रही है। ऐसे में सही यह है कि हम ऐसे कार्य ही न करें जिससे आदिवासी बस्तियों को उजाड़ना पड़े। जितनी कसरत सरकार नाकाम विस्थापन-पुनर्वास में करती है, उतनी यदि इनको यथास्थान बनाए रखते हुए इन्हें वन आधारित रोज़गारों से जोड़ने में की जाए तो शायद वन और वन्य प्राणियों की सुरक्षा की ज़्यादा उम्मीद की जा सकेगी। ***(स्रोत फीचर्स)***